१. पं० दलसुख मालवणिया, निशीथ : एक अध्ययन, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, प्रथम संस्करण, पृ० ५४।
२. प्रशमरति—उमास्वाति, श्लोक १४५।
३. निशीथभाष्य, (निशीथ चूर्णि) — संपा० उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १७५७, ५२४५।
४. बृहत्कल्पभाष्य, संपा० पुण्यविजयजी, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९३३, पीठिका, गा. ३२२।
५. वही गा. ३२३-३२४।
६. दशवैकालिक, संपा० मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, (राज०), ६, १४।
७. व्यवहारसूत्रउद्देशक, संपा० मुनि कन्हैलाल जी 'कमल', ८।
८. निशीथ : एक अध्ययन, पृ० ६८।
९. निशीथभाष्य, गाथा ३६६-३६७।
१०. बृहत्कल्पभाष्य गाथा ४९४६-४९४७।
११. पं० दलसुखभाई मालवणिया— निशीथ : एक अध्ययन पृ०५३-७०।
१२. निशीथसूत्रचूर्णि, तृतीय भाग, भूमिका पृ० ७-२८।
१३. छेदसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, पृष्ठ ७४-७५

•

जैन-धर्म में प्रायश्चित्त एवं दण्ड-व्यवस्था

प्रायश्चित्त और दण्ड

जैन आचार्यों ने न केवल आचार के विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया अपितु उनके भङ्ग होने पर प्रायश्चित्त एवं दण्ड की व्यवस्था भी की। सामान्यतया जैन-आगम ग्रन्थों में नियम-भङ्ग या अपराध के लिए प्रायश्चित्त का ही विधान किया गया और दण्ड शब्द का प्रयोग सामान्यतया "हिंसा" के अर्थ में हुआ है। अत: जिसे हम दण्ड-व्यवस्था के रूप में जानते हैं, वह जैन-परम्परा में प्रायश्चित्त-व्यवस्था के रूप में ही मान्य है। सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त पर्यायवाची माने जाते हैं, किन्तु दोनों में सिद्धान्तत: अन्तर है। प्रायश्चित्त में अपराध-बोध की भावना से व्यक्ति में स्वत: ही उसके परिमार्जन की अन्त:प्रेरणा उत्पन्न होती है। प्रायश्चित्त अन्त:प्रेरणा से स्वयं ही किया जाता है, जबकि दण्ड अन्य व्यक्ति के द्वारा दिया जाता है। जैन-परम्परा अपनी आध्यात्मिक-प्रकृति के कारण साधनात्मक जीवन में प्रायश्चित्त का ही विधान करती है। यद्यपि जब साधक अन्त:प्रेरित होकर आत्मशुद्धि के हेतु स्वयं प्रायश्चित्त की याचना नहीं करता है तो संघ-व्यवस्था के लिए उसे दण्ड देना होता है।

यद्यपि हमें यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड देने से साधक की आत्मशुद्धि नहीं होती। चाहे सामाजिक या संघ-व्यवस्था के लिए दण्ड आवश्यक हो किन्तु जब तक उसे अन्त:प्रेरणा से स्वीकृत नहीं किया जाता तब तक वह आत्मविशुद्धि करने में सहायक नहीं होता। जैन-प्रायश्चित्त व्यवस्था में परिहार, छेद, मूल, पाराञ्चिक आदि बाह्यत: तो दण्डरूप हैं, किन्तु उनकी आत्मविशुद्धि की क्षमता को लक्ष्य में रखकर ही ये प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ

प्रायश्चित्त शब्द की आगमिक व्याख्या-साहित्य में विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जीतकल्पभाष्य के अनुसार जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित्त है।[१] यहाँ "प्राय:" शब्द को पाप के रूप में तथा "चित्त" शब्द को शोधक के रूप में परिभाषित किया गया है। हरिभद्र ने पञ्चाशक में प्रायश्चित्त के दोनों ही अर्थ मान्य किये हैं। वे मूलत: "पायच्छित्त" शब्द की व्याख्या उसके प्राकृत रूप के आधार पर ही करते हैं। वे लिखते हैं कि जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[२] इसके साथ ही वे दूसरे अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसके द्वारा चित्त का पाप से शोधन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[३] प्रायश्चित्त शब्द के संस्कृत रूप के आधार पर "प्राय:" शब्द को प्रकर्ष के अर्थ में लेते हुए यह भी कहा गया है कि जिसके द्वारा चित्त प्रकर्षता अर्थात् उच्चता को प्राप्त होता है वह प्रायश्चित्त है।[४]

दिगम्बर टीकाकारों ने "प्राय:" शब्द का अर्थ अपराध और चित्त शब्द का अर्थ शोधन करके यह माना है कि जिस क्रिया के करने से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।[५] एक अन्य व्याख्या में "प्राय:" शब्द का अर्थ "लोक" भी किया गया है। इस दृष्टि से यह माना गया है कि जिस कर्म से साधुजनों का चित्त प्रसन्न होता है वह प्रायश्चित्त है।[६] मूलाचार में कहा गया है कि प्रायश्चित्त वह तप है जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों की विशुद्धि की जाती है।[७] इसी ग्रन्थ में प्रायश्चित्त के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा पूर्वकृत कर्मों की क्षपणा, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछण, निराकरण, उत्क्षेपण एवं छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त के प्रकार

श्वेताम्बर-परम्परा में विविध प्रायश्चित्तों का उल्लेख स्थानाङ्ग, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, जीतकल्प आदि ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु जहाँ समवायाङ्ग में प्रायश्चित्तों के प्रकारों का मात्र नामोल्लेख है वहाँ निशीथ आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्त-योग्य अपराधों का भी विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। प्रायश्चित्त सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों और समस्याओं का स्पष्टतापूर्वक विवेचन बृहत्कल्पभाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि, जीतकल्पभाष्य एवं जीतकल्पचूर्णि में उपलब्ध होता है। जहाँ तक प्रायश्चित्त के प्रकारों का प्रश्न है, इन प्रकारों का उल्लेख श्वेताम्बर-आगम स्थानाङ्ग, बृहत्कल्प, निशीथ और जीतकल्प में, यापनीय-ग्रन्थ मूलाचार में, दिगम्बर-ग्रन्थ जयधवला में तथा तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में मिलता है।

स्थानाङ्गसूत्र में प्रायश्चित्त के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख हुआ है, उसके तृतीय स्थान में ज्ञान-प्रायश्चित्त, दर्शन-प्रायश्चित्त और चारित्र-प्रायश्चित्त ऐसे तीन प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है।[९] इसी तृतीय स्थान में अन्यत्र आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभय ऐसे प्रायश्चित्त के तीन रूपों का भी उल्लेख हुआ है।[१०] इसी आगम-ग्रन्थ में अन्यत्र छः, आठ और नौ प्रायश्चित्तों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु ये सभी प्रायश्चित्तों के प्रकार उसके दशम स्थान में जहाँ दशविध प्रायश्चित्तों का विवरण दिया गया है उसमें समाहित हो जाते हैं।[११] अतः हम उनकी स्वतन्त्र रूप से चर्चा न करके उसमें उपलब्ध दशविध प्रायश्चित्तों की चर्चा करेंगे—

स्थानाङ्ग, जीतकल्प और धवला में प्रायश्चित्त के निम्न दस प्रकार माने गये हैं—

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक।[१२] यदि हम इन इन्हीं नामों की तुलना यापनीय ग्रन्थ मूलाचार[१३] और तत्त्वार्थसूत्र[१४] से करते हैं तो मूलाचार में प्रथम आठ नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु जीतकल्प के अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पारांचिक के स्थान पर 'श्रद्धान' का उल्लेख हुआ है। मूलाचार श्वेताम्बर-परम्परा से भिन्न होकर तप और परिहार को अलग-अलग मानता है। तत्त्वार्थसूत्र में तो इनकी संख्या नौ मानी गई है। इसमें सात नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु मूल के स्थान पर उपस्थापन और अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार का उल्लेख हुआ है। पारांचिक का उल्लेख तत्त्वार्थ में नहीं है। अतः वह नौ प्रायश्चित्त ही मानता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने तप और परिहार को एक माना है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तप और परिहार दोनों स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माने गये हैं, अतः तत्त्वार्थ में परिहार का अर्थ अनवस्थाप्य ही हो सकता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ और मूलाचार दोनों तप और परिहार को अलग-अलग मानते हैं और दोनों में उनका अर्थ अनवस्थाप्य के समान है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ धवला १७ में स्थानाङ्ग और जीतकल्प के समान ही १० प्रायश्चित्तों का वर्णन है और उनके नाम भी वे ही हैं। इसप्रकार जहाँ धवला श्वेताम्बर-परम्परा से संगति रखती है, वहाँ मूलाचार और तत्त्वार्थ कुछ भिन्न हैं। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि जीतकल्प-सूत्र के उल्लेखानुसार जब अनवस्थाप्य और पारांचिक इन दोनों प्रायश्चित्तों को भद्रबाहु के बाद व्युच्छिन्न मान लिया गया या दूसरे शब्दों में इन प्रायश्चित्तों का प्रचलन बन्द कर दिया गया[१५] तो इन अन्तिम दो प्रायश्चित्तों के स्वतन्त्र स्वरूप को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और उनके नामों में अन्तर हो गया। मूलाचार के अन्त में परिहार का जो उल्लेख है वह अनवस्थाप्य से कोई भिन्न नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसमें श्रद्धान प्रायश्चित्त का क्या तात्पर्य है यह न तो मूल ग्रन्थ से और न उसकी टीका से ही स्पष्ट होता है। यह अन्तिम प्रायश्चित्त है, अतः कठोरतम होना चाहिये। इसका अर्थ यह माना जा सकता है कि ऐसा अपराधी जो श्रद्धान से सर्वथा रहित है अतः संघ से पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाये किन्तु टीकाकार वसुनन्दी ने श्रद्धान का अर्थ तत्त्वरुचि एवं क्रोधादि-त्याग किया है। इन प्रायश्चित्तों में जो क्रम है वह सहजता से कठोरता की ओर है। अतः अन्त में श्रद्धान नामक सहज प्रायश्चित्त को रखने के लिए कोई औचित्य नहीं है। वस्तुतः जिन-प्रवचन के प्रति श्रद्धा का समाप्त हो जाना ही वह अपराध है, जिसका दण्ड मात्र संघ-बहिष्कार है। अतः ऐसे श्रमण की श्रद्धा जब तक सम्यक् नहीं है तब तक उसे संघ से बहिष्कृत रखना ही इस प्रायश्चित्त का तात्पर्य है।

प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम रूप वह है जहाँ साधक को स्वयं ही अपने मन में अपराधबोध के परिणामस्वरूप आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न हो। वस्तुतः आलोचना का अर्थ है— अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार कर लेना। आलोचना शब्द का अर्थ-देखना, अपराध को अपराध के रूप में देख लेना ही आलोचना है। सामान्यतया वे अपराध जो हमारे दैनन्दिन व्यवहार में असावधानी (प्रमाद) या बाध्यतावश घटित होते हैं, आलोचना नामक प्रायश्चित्त के विषय माने गये हैं। अपने द्वारा हुए अपराध या नियमभङ्ग को आचार्य या गीतार्थ मुनि के समक्ष निवेदित करके उनसे उसके प्रायश्चित्त की याचना करना ही आलोचना है। सामान्यतया आलोचना करते समय यह विचार आवश्यक है कि अपराध क्यों हुआ? उसका प्रेरक तत्त्व क्या है?

अपराध क्यों और कैसे?

अपराध या व्रतभङ्ग क्यों और किन परिस्थितियों में किया जाता है? इसका विवेचन हमें स्थानाङ्ग सूत्र के दशम स्थान में मिलता है। उसमें दस प्रकार की प्रतिसेवना का उल्लेख हुआ है। प्रतिसेवना का तात्पर्य है गृहीत व्रत के नियमों के विरुद्ध आचरण करना अथवा भोजन आदि ग्रहण करना। वस्तुतः प्रतिसेवना का सामान्य अर्थ व्रत या नियम के प्रतिकूल आचरण करना ही है। यह व्रतभङ्ग क्यों, कब और किन परिस्थितियों में होता है इसे स्पष्ट करने हेतु ही स्थानाङ्ग में दस प्रतिसेवनाओं का उल्लेख है।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) दर्प-प्रतिसेवना— आवेश अथवा अहङ्कार के वशीभूत होकर जो हिंसा आदि करके व्रत-भङ्ग किया जाता है वह दर्प-प्रतिसेवना है

(२) प्रमाद-प्रतिसेवना—प्रमाद एवं कषायों के वशीभूत होकर जो व्रत-भङ्ग किया जाता है, वह प्रमाद-प्रतिसेवना है।

(३) अनाभोग-प्रतिसेवना— स्मृति या सजगता के अभाव में अभक्ष्य या नियम-विरुद्ध वस्तु का ग्रहण करना अनाभोग-प्रतिसेवना है।

(४) आतुर-प्रतिसेवना— भूख-प्यास आदि से पीड़ित होकर किया जाने वाला व्रत-भङ्ग आतुर-प्रतिसेवना है।

(५) आपात-प्रतिसेवना— किसी विशिष्ट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर व्रत-भङ्ग या नियम-विरुद्ध आचरण करना आपात-प्रतिसेवना है।

(६) शङ्कित-प्रतिसेवना—शङ्का के वशीभूत होकर जो नियम-भङ्ग किया जाता है, उसे शङ्कित-प्रतिसेवना कहते हैं, जैसे यह व्यक्ति हमारा अहित करेगा, ऐसा मानकर उसकी हिंसा आदि कर देना।

(७) सहसाकार-प्रतिसेवना— अकस्मात् होने वाले व्रतभङ्ग या नियम-भङ्ग को सहसाकार-प्रतिसेवना कहते हैं।

(८) भय-प्रतिसेवना—भय के कारण जो व्रत या नियम-भङ्ग किया जाता है वह भय-प्रतिसेवना है।

(९) प्रदोष-प्रतिसेवना—द्वेषवश किसी प्राणी की हिंसा अथवा उसका अहित करना प्रदोष-प्रतिसेवना है।

(१०) विमर्श-प्रतिसेवना— शिष्यों की क्षमता अथवा उनकी श्रद्धा आदि के परीक्षण के लिए व्रत या नियम का भङ्ग करना विमर्श-प्रतिसेवना है। दूसरे शब्दों में किसी निश्चित उद्देश्य के लिए विचारपूर्वक व्रतभङ्ग करना या नियम के प्रतिकूल आचरण करना विमर्श या प्रतिसेवना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराध व्यक्ति केवल स्वेच्छा से जानबूझकर ही नहीं करता अपितु परिस्थतिवश भी करता है। अत: उसे प्रायश्चित्त देते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपराध क्यों और किन परिस्थितियों में किया गया है?

आलोचना करने का अधिकारी कौन?

आलोचना कौन व्यक्ति कर सकता है? इस सम्बन्ध में भी स्थानाङ्गसूत्र[17] में पर्याप्त चिन्तन किया गया है। इसके अनुसार निम्न दस गुणों से युक्त व्यक्ति ही आलोचना करने के योग्य होता है—

(१) जाति सम्पन्न, (२) कुल सम्पन्न, (३) विनय सम्पन्न, (४) ज्ञान सम्पन्न, (५) दर्शन सम्पन्न, (६) चारित्र सम्पन्न, (७) क्षान्त (क्षमासम्पन्न), (८) दान्त (इन्द्रिय-जयी), (९) अमायावी (मायाचार-रहित) और (१०) अपश्चात्तापी (आलोचना करने के बाद उसका पश्चात्ताप न करने वाला)।

आलोचना किसके समक्ष की जाये?

आलोचना किस व्यक्ति के समक्ष की जानी चाहिए? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। योग्य और गम्भीर व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष आलोचना करने का परिणाम यह होता है कि वह आलोचना करने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचा सकता है तथा उसे अपयश का भागी बनना पड़ सकता है। अत: जैनाचार्यों ने माना कि आलोचना सदैव ऐसे व्यक्ति के समक्ष करनी चाहिये जो आलोचना सुनने योग्य हो, उसे गोपनीय रख सकता हो और उसका अनैतिक लाभ न ले। स्थानाङ्ग सूत्र[18] के अनुसार जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जाती है उसे निम्नलिखित दस गुणों से युक्त होना चाहिए—

(१) आचारवान्—सदाचारी होना, आलोचना देने वाले व्यक्ति का प्रथम गुण है, क्योंकि जो स्वयं दुराचारी है वह दूसरों के अपराधों की आलोचना सुनने का अधिकारी नहीं है। जो अपने ही दोषों को शुद्ध नहीं कर सका वह दूसरों के दोषों को क्या दूर करेगा?

(२) आधारवान्—अर्थात् उसे अपराधों और उसके सम्बन्ध में नियत प्रायश्चित्तों का बोध होना चाहिए, उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि किस अपराध के लिए किस प्रकार का प्रायश्चित्त नियत है।

(३) व्यवहारवान्— उसे आगम, श्रुत, जिनाज्ञा, धारणा और जीत इन पाँच प्रकार के व्यवहारों को जानने वाला होना चाहिए क्योंकि सभी अपराधों एवं प्रायश्चित्तों की सूची आगमों में उपलब्ध नहीं है अत: आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये जो स्वविवेक से ही आगमिक आधारों पर किसी कर्म के प्रायश्चित्त का अनुमान कर सके।

(४) अपव्रीडक—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि आलोचना करने वाले की लज्जा छुड़ाकर उसमें आत्म-आलोचन की शक्ति उत्पन्न कर सके।

(५) प्रकारी— आचार्य अथवा आलोचना सुनने वाले में यह सामर्थ्य होना चाहिए कि वह अपराध करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सके।

(६) अपरिश्रावी—उसे आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रगट नहीं करना चाहिये, अन्यथा कोई भी व्यक्ति उसके सामने आलोचना करने में संकोच करेगा।

(७) निर्यापक—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि वह प्रायश्चित्त-विधान इस प्रकार करे कि प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति घबराबर उसे आधे में ही न छोड़ दे। उसे प्रायश्चित्त करने वाले का सहयोगी बनना चाहिए।

(८) अपायदर्शी— अर्थात् उसे ऐसा होना चाहिए कि वह आलोचना करने अथवा न करने के गुण-दोषों की समीक्षा कर सके।

(९) प्रियधर्मा—अर्थात् आलोचना सुनने वाले व्यक्ति की धर्म-मार्ग में अविचल निष्ठा होनी चाहिए।

(१०) दृढ़धर्मा—उसे ऐसा होना चाहिए कि वह कठिन से कठिन समय में भी धर्म-मार्ग से विचलित न हो सके।

जिसके समक्ष आलोचना की जा सकती है उस व्यक्ति की इन सामान्य योग्यताओं का निर्धारण करने के साथ-साथ यह भी माना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है कि किसी गीतार्थ, बहुश्रुत एवं आगमज्ञ के समक्ष ही आलोचना की जानी चाहिए। साथ ही इनके पदक्रम और वरीयता पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि जहाँ आचार्य आदि उच्चाधिकारी उपस्थित हों, वहाँ सामान्य साधु या गृहस्थ के समक्ष आलोचना नहीं करनी चाहिए। आचार्य के उपस्थित होने पर उसी के समक्ष आलोचना की जानी चाहिए। आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय के समक्ष, उपाध्याय की अनुपस्थिति में सांभोगिक साधर्मिक साधु के समक्ष और उनकी अनुपस्थिति में अन्य सांभोगिक साधर्मी साधु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि अन्य सांभोगिक साधर्मी साधु भी उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ समान-वेश-धारक साधु के समक्ष आलोचना करे। उसके उपलब्ध न होने पर यदि पूर्व में दीक्षा-पर्याय को छोड़ा हुआ बहुश्रुत और आगमज्ञ श्रमणोपासक उपस्थित हो तो उसके समक्ष आलोचना करे। उसके अभव में सम्यक्त्व-भावित अन्त:करण वाले के समक्ष अर्थात् सम्यक्त्वी जीव के समक्ष आलोचना करे। यदि सम्यक्त्वभावी अन्त:करण वाला भी न हो तो ग्राम या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा में अभिमुख होकर अरिहन्त और सिद्ध की साक्षीपूर्वक आलोचना करे।[१९]

आलोचना-सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसङ्ग में यह भी तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आलोचना दोषमुक्त हो। स्थानाङ्ग, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों में आलोचना के दस दोषों का उल्लेख हुआ है।[२०]

(१) आकम्पित दोष—आचार्य आदि को उपकरण आदि देकर अपने अनुकूल बना लेना आकम्पित दोष है। कुछ विद्वानों के अनुसार आकम्पित दोष का अर्थ है काँपते हुए आलोचना करना, जिससे प्रायश्चित्तदाता कम से कम प्रायश्चित्त दे।

(२) अनुमानित दोष—भय से अपने को दुर्बल, रोगग्रस्त आदि दिखाकर आलोचना करना अनुमानित दोष है। ऐसा 'अल्प प्रायश्चित्त मिले' इस भावना से किया जाता है।

(३) अद्रष्ट—गुरु अथवा अन्य किसी ने जो अपराध देख लिया हो उसकी तो आलोचना करना और अद्रष्ट दोषों की आलोचना न करना यह अद्रष्ट दोष है।

(४) बादर दोष—बड़े दोषों की आलोचना करना और छोटे दोषों की आलोचना न करना बादर दोष है।

(५) सूक्ष्म दोष—छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना और बड़े दोषों को छिपा लेना सूक्ष्म दोष है।

(६) छन्न दोष—आलोचना इस प्रकार से करना कि गुरु उसे पूरी तरह सुन ही न सके, यह छन्न दोष है। कुछ विद्वानों के अनुसार आचार्य के समक्ष मैंने यह दोष किया, यह न कहकर किसी बहाने से उस दोष का प्रायश्चित्त ज्ञात कर स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त ले लेना छन्न दोष है।

(७) शब्दाकुलित दोष—कोलाहलपूर्ण वातावरण में आलोचना करना जिससे आचार्य सम्यक् प्रकार से सुन न सके, यह शब्दाकुलित दोष है। दूसरे शब्दों में भीड़-भाड़ अथवा व्यस्तता के समय गुरु के सामने आलोचना करना दोषपूर्ण माना गया है।

(८) बहुजन-दोष—एक ही दोष की अनेक लोगों के समक्ष आलोचना करना और उनमें से जो सबसे कम दण्ड या प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्त दोष—दोषों को पूर्णरूप से स्पष्ट न कहते हुए उनकी आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

(१०) तत्सेवी दोष—जो व्यक्ति स्वयं ही दोषों का सेवन करने वाले हैं उनके सामने दोषों की आलोचना करना तत्सेवी दोष है। क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं दोष का सेवन करने वाला है उसे दूसरे को प्रायश्चित्त देने का अधिकार ही नहीं है। दूसरे, ऐसा व्यक्ति उचित प्रायश्चित्त भी नहीं दे पाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने आलोचना के सन्दर्भ में उसके स्वरूप, आलोचना करने व सुनने की पात्रता और उसके दोषों पर गहराई से विचार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा निशीथ आदि में पायी जाती है। पाठकों से उसे वहाँ देखने की अनुशंसा की जाती है।

आलोचना-योग्य कार्य

जीतकल्प के अनुसार जो भी करणीय अर्थात् आवश्यक कार्य हैं, वे तीर्थङ्करों द्वारा सम्पादित होने पर तो निर्दोष होते हैं, किन्तु छद्मस्थ श्रमणों द्वारा सम्पादित इन कर्मों की शुद्धि केवल आलोचना से ही मानी गयी है। जीतकल्प में कहा गया है कि आहार आदि का ग्रहण, गमनागमन, मल-मूत्र विसर्जन, गुरुवन्दन आदि सभी क्रियाएँ आलोचना के योग्य हैं।[२१] इन्हें आलोचना-योग्य मानने का तात्पर्य यह है कि साधक इस बात का विचार करे कि उसने इन कार्यों का सम्पादन सजगतापूर्वक अप्रमत्त होकर किया या नहीं। क्योंकि प्रमाद के कारण दोष लगना सम्भव है। इसी प्रकार आचार्य से सौ हाथ की दूरी पर रहकर जो भी कार्य किये जाते हैं, वे भी आलोचना के विषय माने गये हैं। इन कार्यों की गुरु के समक्ष आलोचना करने पर ही साधक निर्दोष होता है। गुरु को यह बताये कि उसने गुरु से दूर रहकर क्या-क्या कार्य किस प्रकार सम्पादित किये हैं? इसके साथ ही किसी कारणवश या अकारण ही स्व-गण का परित्याग कर पर-गण में प्रवेश करने को अथवा उपसम्पदा, विहार आदि कार्यों को भी आलोचना का विषय माना गया है। ईर्या आदि पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में लगे हुए दोष सामान्यतया आलोचना के विषय हैं। यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी दोष जो आलोचना के विषय हैं, वे देश-काल-परिस्थिति और व्यक्ति के आधार पर प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, परिहार, छेद आदि प्रायश्चित्त के भी योग्य हो सकते हैं।

प्रतिक्रमण

प्रायश्चित्त का दूसरा प्रकार प्रतिक्रमण है। अपराध या नियमभङ्ग को अपराध के रूप में स्वीकार कर पुन: उससे वापस लौट आना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् भविष्य में उसे नहीं करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में आपराधिक-स्थिति से अनपराधिक-स्थिति में लौट आना ही प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण में अन्तर यह है कि आलोचना में अपराध को पुनः सेवन न करने का निश्चय नहीं होता, जबकि प्रतिक्रमण में ऐसा करना आवश्यक है।

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिए कृत-पापों की समीक्षा करना और पुनः नहीं करने की प्रतिज्ञा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभयोग से अशुभ योग की ओर गये हुए अपने आपको पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[२२] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया है— (१) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परधर्म) में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान हैं। इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। (२) क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। (३) अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण में निःशल्य भाव से पुनः प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[२३]

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिये हैं— (१) **प्रतिक्रमण**— पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना। (२) **प्रतिचरण**— हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। (३) **परिहरण**— सब प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना। (४) **वारण**— निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना। बौद्ध-धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारणा कहा गया है। (५) **निवृत्ति**— अशुभ भावों से निवृत्त होना। (६) **निन्दा**— गुरुजन, वरिष्ठजन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिये पश्चात्ताप करना। (७) **गर्हा**— अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना। (८) **शुद्धि**— प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिए उसे शुद्धि कहा गया है।

प्रतिक्रमण किसका ?

स्थानाङ्गसूत्र में इन छह बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है— (१) **उच्चार प्रतिक्रमण**— मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्या (आने-जाने में हुई जीवहिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है। (२) **प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण**— पेशाब करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण है। (३) **इत्वर प्रतिक्रमण**— स्वल्पकालीन (दैवसिक, रात्रिक आदि) प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है। (४) **यावत्कथिक प्रतिक्रमण**— सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। (५) **यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण**— सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना, 'मिच्छामि दुक्कडं' ऐसा उच्चारण करना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है। (६) **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण**— विकार-वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।[२४] यह विवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनचर्या से सम्बन्धित है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन-जिन बातों का प्रतिक्रमण करना चाहिए इसका निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में किया है।[२५] उनके अनुसार (१) मिथ्यात्व, (२) असंयम, (३) कषाय एवं (४) अप्रशस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है— (१) गृहस्थ एवं श्रमण उपासक के द्वारा निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, (२) जिन कार्यों के करने का शास्त्रों में विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, (३) अश्रद्धा एवं शङ्का के उपस्थित हो जाने पर और (४) असम्यक् एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए।

जैन-परम्परा के अनुसार जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) २५ मिथ्यात्वों, १४ ज्ञानातिचारों और १८ पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

(ब) पञ्च महाव्रतों, मन, वाणी और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मलमूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमण साधकों को करना चाहिए।

(स) ५ अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों, ४ शिक्षाव्रतों में लगने वाले ७५ अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिए।

(द) सल्लेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण उन साधकों के लिए जिन्होंने सल्लेखना व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण-प्रतिक्रमण सूत्र और श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र में सम्बन्धित सम्भावित दोषों की विवेचना विस्तार से की गई है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हो।

प्रतिक्रमण के भेद

साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं— (१) **श्रमण-प्रतिक्रमण** और (२) **श्रावक-प्रतिक्रमण**। कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं— (१) **दैवसिक**— प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। (२) **रात्रिक**— प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। (३) **पाक्षिक**— पक्ष के अन्तिम दिन अर्थात् अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। (४) **चातुर्मासिक**— कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने के आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। (५) **सांवत्सरिक**— प्रत्येक वर्ष में संवत्सरी महापर्व (ऋषि पञ्चमी) के दिन वर्ष-भर के पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

तदुभय

तदुभय प्रायश्चित्त वह है जिसमें अलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं। अपराध या दोष को दोष के रूप में स्वीकार करके फिर उसे नहीं करने का निश्चय करना ही तदुभय प्रायश्चित्त है। जीतकल्प में निम्न प्रकार के अपराधों के लिए तदुभय प्रायश्चित्त का विधान किया गया है— (१) भ्रमवश किये गये कार्य, (२) भयवश किये गये कार्य, (३) आतुरतावश किये गये कार्य, (४) सहसा किये गये कार्य, (५) परवशता में किये गये कार्य, (६) सभी व्रतों में लगे हुए अतिचार।

विवेक

विवेक शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि किसी कर्म के औचित्य एवं अनौचित्य का सम्यक् निर्णय करना और अनुचित कर्म का परित्याग कर देना। मुनि जीवन में आहारादि के ग्राह्य और अग्राह्य अथवा शुद्ध और अशुद्ध का विचार करना ही विवेक है। यदि अज्ञात रूप से सदोष आहार आदि ग्रहण कर लिया हो तो उसका त्याग करना ही विवेक है। वस्तुतः सदोष क्रियाओं का त्याग ही विवेक है। मुख्य रूप से भोजन, वस्त्र, मुनि-जीवन के अन्य उपकरण एवं स्थानादि प्राप्त करने में जो दोष लगते हैं उनकी शुद्धि विवेक-प्रायश्चित्त द्वारा मानी गयी है।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग का तात्पर्य 'परित्याग' या 'विसर्जन' है। सामान्यतया इस प्रायश्चित्त के अन्तर्गत किसी भी सदोष-आचरण के लिए शारीरिक व्यापारों का निरोध करके मन की एकाग्रतापूर्वक देह के प्रति रहे हुए ममत्व का विसर्जन किया जाता है। जीतकल्प के अनुसार गमनागमन, विहार, श्रुत-अध्ययन, सदोष स्वप्न, नाव आदि के द्वारा नदी को पार करना, भक्त-पान, शय्या-आसन, मलमूत्र-विसर्जन, काल व्यतिक्रम, अर्हत् एवं मुनि का अविनय आदि दोषों के लिए व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जीतकल्प में इस तथ्य का भी उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार के दोष के लिए कितने समय या श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया जाना चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रसङ्ग में व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग पर्यायवाची के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

तप-प्रायश्चित्त

सामान्य दोषों के अतिरिक्त विशिष्ट दोषों के लिए तप-प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। किस प्रकार के दोष का सेवन करने पर किस प्रकार के तप का प्रायश्चित्त करना होता है। उसका विस्तारपूर्वक विवेचन निशीथ, बृहत्कल्प और जीतकल्प में तथा उनके भाष्यों में मिलता है। निशीथ सूत्र में तप-प्रायश्चित्त के योग्य अपराधों की विस्तृत सूची उपलब्ध है। उसमें तप-प्रायश्चित्त के विविध प्रकारों की चर्चा करते हुए मासलघु, मासगुरु, चातुर्मासलघु, चातुर्मासगुरु से लेकर षट्मासलघु और षट्मासगुरु प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व में सङ्केत किया है मासगुरु या मासलघु आदि इनका क्या तात्पर्य है, यह इन ग्रन्थों के मूल में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है किन्तु इन पर लिखे गये भाष्य-चूर्णि आदि में इनके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, मात्र यही नहीं लघु की लघु, लघुतर और लघुतम तथा गुरु की गुरु, गुरुतर और गुरुतम ऐसी तीन-तीन कोटियाँ निर्धारित की गई हैं।

कहीं-कहीं गुरुक, लघुक और लघुष्वक ऐसे तीन भेद भी किये गये हैं और फिर इनमें से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद किये गये हैं। व्यवहारसूत्र की भूमिका में अनुयोगकर्ता मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रत्येक के भी तीन-तीन विभाग किये हैं। यथा— उत्कृष्ट के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्टमध्यम और उत्कृष्टजघन्य ये तीन विभाग हैं। ऐसे ही मध्यम और जघन्य के भी तीन-तीन विभाग किये गये हैं। इस प्रकार तप प्रायश्चित्तों के ३×३×३=२७ भेद हो जाते हैं। उन्होंने विशेष रूप से जानने के लिए व्यवहारभाष्य का सङ्केत किया है किन्तु व्यवहारभाष्य मुझे उपलब्ध न होने के कारण मैं इस चर्चा के प्रसङ्ग में उनके ववहारसुत्तं के सम्पादकीय का ही उपयोग कर रहा हूँ। उन्होंने इन सम्पूर्ण २७ भेदों और उनसे सम्बन्धित तपों का भी उल्लेख नहीं किया है। अतः इस सम्बन्ध में मुझे भी मौन रहना पड़ रहा है। इन प्रायश्चित्तों से सम्बन्धित मास, दिवस एवं तपों की संख्या का उल्लेख हमें बृहत्कल्पभाष्य गाथा ६०४१-६०४४ में मिलता है। उसी आधार पर निम्न विवरण प्रस्तुत है—

प्रायश्चित्त का नाम	तप का स्वरूप एवं काल
यथागुरु	छह मास तक निरन्तर पाँच-पाँच उपवास
गुरुतर	चार मास तक निरन्तर चार-चार उपवास
गुरु	एक मास तक निरन्तर तीन-तीन उपावास(तेले)
लघु	१० बेले १० दिन पारणे (एक मास तक निरन्तर दो-दो उपवास)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लघुतर	२५ दिन तक निरन्तर एक दिन उपवास और एक दिन भोजन।
यथालघु	२० दिन तक निरन्तर आयम्बिल (रूखा-सूखा भोजन)।
लघुष्वक	१५ दिन तक निरन्तर एकासन (एक समय भोजन)।
लघुष्वकतर	१० दिन तक निरन्तर दो पोरसी अर्थात् १२ बजे के बाद भोजन ग्रहण।
यथालघुष्वक	पाँच दिन तक निरन्तर निर्विकृति (घी, दूध आदि से रहित भोजन)।

लघुमासिक-योग्य अपराध

दारुदण्ड का पादप्रोंछन बनाना, पानी निकलने के लिए नाली बनाना, दानादि लेने के पूर्व अथवा पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में दुबारा प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्या अथवा आवास देने वाले मकान-मालिक के यहाँ का आहार-पानी ग्रहण करना, आदि क्रियाएँ लघुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

गुरुमासिक-योग्य अपराध

अङ्गादान का मर्दन करना, अङ्गादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अङ्गादान को नली में डालना, पुष्पादि सूंघना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपभोग करना आदि क्रियायें गुरुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

लघु चातुर्मासिक-योग्य अपराध

प्रत्याख्यान का बार-बार भङ्ग करना, गृहस्थ के वस्त्र, शय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, अर्धयोजन अर्थात् दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा अकारण औषधि का सेवन करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानों में मल-मूत्र डालकर गन्दगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, समान आचार वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत-गाना, वाद्य-यन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना, योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, मिथ्यात्व-भावित अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को शास्त्र पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना आदि क्रियायें लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त की कारण हैं।

गुरुचातुर्मासिक-योग्य अपराध

मैथुन सम्बन्धी अतिचार या अनाचारों का सेवन करना, राजपिण्ड ग्रहण करना, आधाकर्मी आहार ग्रहण करना, रात्रिभोजन करना, रात्रि में आहारादि रखना, धर्म की निन्दा और अधर्म की प्रशंसा करना, अनन्तकाय युक्त आहार खाना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभालाभ का निमित्त बताना, किसी श्रमण-श्रमणी को बहकाना, किसी दीक्षार्थी को भड़काना, अयोग्य को दीक्षा देना आदि क्रियाएँ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

तप और परिहार का सम्बन्ध

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, तत्त्वार्थ और यापनीय परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में परिहार को स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माना गया है। जबकि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमिक ग्रन्थों में और धवला में इसे स्वतन्त्र प्रायश्चित्त न मानकर इसका सम्बन्ध तप के साथ जोड़ा गया है। परिहार शब्द का अर्थ बहिष्कृत करना अथवा त्याग करना होता है। श्वेताम्बर-आगम ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गर्हित अपराधों को करने पर भिक्षु या भिक्षुणी को न केवल तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता था अपितु उसे यह कहा जाता था कि वे भिक्षु-सङ्घ या भिक्षुणी-संघ से पृथक् होकर निर्धारित तप पूर्ण करें। निर्धारित तप को पूर्ण कर लेने पर उसे पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया जाता था। इस प्रकार परिहार का तात्पर्य था कि प्रायश्चित्त रूप तप की निर्धारित अवधि के लिए सङ्घ से भिक्षु का पृथक्करण। परिहार तप की अवधि में वह भिक्षु भिक्षुसङ्घ के साथ रहते हुए भी अपना आहार-पानी अलग करता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि परिहार प्रायश्चित्त में तथा अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त में मूलभूत अन्तर था। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में जहाँ उसे गृहस्थ-वेष धारण करवाकर के ही उपस्थापन किया जाता था, वहाँ परिहार में ऐसा कोई विधान न था। यह केवल प्रायश्चित्त की तपावधि के लिए मर्यादित पृथक्करण था। सम्भवतः प्राचीनकाल में तप नामक प्रायश्चित्त दो प्रकार से दिया जाता रहा होगा। परिहारपूर्वक और परिहाररहित। इसी आधार पर आगे चलकर जब अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्तों का प्रचलन समाप्त कर दिया गया। तब प्रायश्चित्तों की इस संख्या को पूर्ण करने के लिए यापनीय परम्परा में तप और परिहार की गणना अलग-अलग की जाने लगी। परिहार नामक प्रायश्चित्त की अधिकतम अवधि छः मास ही है। परिहार का छेद प्रायश्चित्त से अन्तर यह है कि जहाँ छेद प्रायश्चित्त दिये जाने पर भिक्षुणी सङ्घ में वरीयता बदल जाती थी वहाँ परिहार प्रायश्चित्त से उसकी वरीयता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। मूलाचार में परिहार को जो छेद और मूल के बाद स्थान दिया गया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कठोरता की दृष्टि से छेद और मूल की अपेक्षा परिहार प्रायश्चित्त कम कठोर था। वसुनन्दी की मूलाचार की टीका में परिहार की 'गण से पृथक् रहकर अनुष्ठान करना' ऐसी जो व्याख्या की गई है वह समुचित एवं श्वेताम्बर-परम्परा के अनुरूप ही है। फिर भी यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में मूलभूत अन्तर इतना तो अवश्य है कि श्वेताम्बर-परम्परा परिहार को तप से पृथक् प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार नहीं करती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर-परम्परा यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम की धवला टीका परिहार को पृथक् प्रायश्चित्त नहीं मानती है। उसमें श्वेताम्बर-परम्परा-सम्मत दस प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है जिसमें परिहार का उल्लेख नहीं है।

छेद प्रायश्चित्त

जो अपराधी शारीरिक दृष्टि से कठोर तप-साधना करने में असमर्थ है अथवा समर्थ होते हुए भी तप के गर्व से उन्मत्त है और तप प्रायश्चित्त से उसके व्यवहार में सुधार सम्भव नहीं होता है और तप प्रायश्चित्त करके पुनः-पुनः अपराध करता है, उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। छेद प्रायश्चित्त का तात्पर्य है भिक्षु या भिक्षुणी के दीक्षा-पर्याय को कम कर देना, जिसका परिणाम यह होता है कि अपराधी का श्रमण सङ्घ में वरीयता की दृष्टि से जो स्थान है, वह अपेक्षाकृत निम्न हो जाता है अर्थात् जो दीक्षा-पर्याय में उससे लघु हैं वे उससे ऊपर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उसकी वरिष्ठता (सीनियरिटी) कम हो जाती हैं और उसे इस आधार पर जो भिक्षु उससे कभी कनिष्ठ रहे हैं उनको उसे वन्दन आदि करना होता है। किस अपराध में कितने दिन का छेद प्रायश्चित्त आता है इसका स्पष्ट उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला। सम्भवतः यह परिहारपूर्वक तप प्रायश्चित्त का एक विकल्प है। अर्थात् जिसके अपराध के लिए मास या दिन के लिए तप निर्धारित हो, उस अपराध के करने पर कभी उतने दिन का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैसे जो अपराध षाण्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं, उनके करने पर कभी उसे छह मास का छेद प्रायश्चित्त भी दिया जाता है। दूसरे शब्दों में उसकी वरीयता छह मास कम कर दी जाती है। अधिकतम तप की अवधि ऋषभदेव के समय में एक वर्ष, अन्य बाईस तीर्थङ्करों के समय में आठ मास और महावीर के समय में छह मास मानी गई है। अतः अधिकतम एक साथ छह मास का ही छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। सामान्यतया पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और संसक्त भिक्षुओं को छेद प्रायश्चित्त दिये जाने का विधान है।

मूल प्रायश्चित्त

मूल प्रायश्चित्त का अर्थ होता था, पूर्व की दीक्षा-पर्याय को पूर्णतः समाप्त कर नवीन दीक्षा प्रदान करना। इसके परिणामस्वरूप ऐसा भिक्षु उस भिक्षुसङ्घ में जिस दिन उसे यह प्रायश्चित्त दिया जाता था वह सबसे कनिष्ठ बन जाता था। मूल प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्तों से अर्थ में भिन्न था कि इसमें अपराधी भिक्षु को गृहस्थवेष धारण करना अनिवार्य न था। सामान्यतया पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा एवं मैथुन सम्बन्धी अपराधों को मूल प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। इसी प्रकार जो भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह सम्बन्धी दोषों का पुनः-पुनः सेवन करता है वह भी मूल प्रायश्चित्त का पात्र माना गया है। जीतकल्प भाष्य के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया भी जा सकता है और नहीं भी दिया जा सकता है परन्तु चारित्र की विराधना होने पर तो मूल प्रायश्चित्त दिया ही जाता है। जो तप के गर्व से उन्मत्त हों अथवा जिन पर सामान्य प्रायश्चित्त या दण्ड का कोई प्रभाव ही न पड़ता हो, उनके लिए मूल प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त

अनवस्थाप्य का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को पद से च्युत कर देना है या अलग कर देना है। इस शब्द का दूसरा अर्थ है— जो सङ्घ में स्थापना अर्थात् रखने योग्य नहीं है। वस्तुतः जो अपराधी ऐसे अपराध करता है जिसके कारण उसे सङ्घ से बहिष्कृत कर देना आवश्यक होता है वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। यद्यपि परिहार में भी भिक्षु को सङ्घ से पृथक् किया जाता है किन्तु वह एक सीमित रूप में होता है और उसका वेष-परिवर्तन आवश्यक नहीं माना जाता। जबकि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य भिक्षु को सङ्घ से निश्चित अवधि के लिए बहिष्कृत कर दिया जाता है और उसे तब तक पुनः भिक्षु-सङ्घ में प्रवेश नहीं दिया जाता है जब तक कि वह प्रायश्चित्त के रूप में निर्दिष्ट तप-साधना को पूर्ण नहीं कर लेता है और सङ्घ इस तथ्य से आश्वस्त नहीं हो जाता है कि वह पुनः अपराध नहीं करेगा। जैन-परम्परा में बार-बार अपराध करने वाले आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए यह दण्ड प्रस्तावित किया गया है। स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार साधर्मियों की चोरी करने वाला, अन्य धर्मियों की चोरी करने वाला तथा डण्डे, लाठी आदि से दूसरे भिक्षुओं पर प्रहार करने वाला भिक्षु अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है।

पारांचिक प्रायश्चित्त

वे अपराध जो अत्यन्त गर्हित हैं और जिनके सेवन से न केवल व्यक्ति अपितु सम्पूर्ण जैनसङ्घ की व्यवस्था धूमिल होती है, वे पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। पारांचिक प्रायश्चित्त का अर्थ भी भिक्षु-सङ्घ से बहिष्कार ही है। वैसे जैनाचार्यों ने यह माना है कि पारांचिक अपराध करने वाला भिक्षु यदि निर्धारित समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है तो उसे एक बार गृहस्थवेष धारण करवाकर पुनः सङ्घ में प्रविष्ट किया जा सकता है। बौद्ध-परम्परा में भी पारांचिक अपराधों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऐसा अपराध करने वाला भिक्षु सदैव के लिए सङ्घ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जीतकल्प के अनुसार अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त भद्रबाहु के काल से बन्द कर दिया गया है। इसका प्रमुख कारण शारीरिक क्षमता की कमी हो जाना है। स्थानाङ्ग सूत्र में निम्न पाँच अपराधों को पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) जो कुल में परस्पर कलह करता हो।
(२) जो गण में परस्पर कलह करता हो।
(३) जो हिंसा-प्रेमी हो अर्थात् कुल या गण के साधुओं का घात करना चाहता हो।
(४) जो छिद्रप्रेमी हो अर्थात् जो छिद्रान्वेषण करता हो।
(५) जो प्रश्न-शास्त्र का बार-बार प्रयोग करता हो।

स्थानाङ्ग-सूत्र में ही अन्यत्र अन्योन्य-मैथुनसेवी भिक्षुओं को पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि जहाँ हिंसा करने वाले को, स्त्री से मैथुन सेवन करने वाले को मूल प्रायश्चित्त के योग्य बताया, वहाँ हिंसा की योजना बनाने वाले एवं परस्पर मैथुन-सेवन करने वालों को पारांचित प्रायश्चित्त के योग्य क्यों बताया? इसका कारण यह है कि जहाँ हिंसा एवं मैथुन-सेवन करने वाले का अपराध व्यक्त होता है और उसका परिशोध सम्भव होता है वह मूल प्रायश्चित्त के योग्य है किन्तु इन दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का अपराध बहुत समय तक बना रह सकता है और सङ्घ के समस्त परिवेश को दूषित बना देता है। वस्तुत: जब अपराधी के सुधार की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं तो उसे पारांचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। जीतकल्प के अनुसार तीर्थङ्कर के प्रवचन अर्थात्, श्रुत, आचार्य और गणधर की आशातना करने वाले को भी पारांचिक प्रायश्चित्त का दोषी माना गया है। दूसरे शब्दों में जो जिन-प्रवचन का अवर्णवाद करता हो वह सङ्घ में रहने के योग्य नहीं माना जाता। जीतकल्पभाष्य के अनुसार कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, राजा के वध की इच्छा करने वाला, राजा की अग्रमहिषी से संभोग करने वाला भी पारांचिक प्रायश्चित्त का अपराधी माना गया है। वैसे परवर्ती आचार्यों के अनुसार पारांचिक अपराध का दोषी भी विशिष्ट तप-साधना के पश्चात् सङ्घ में प्रवेश का अधिकारी मान लिया गया है। पारांचिक प्रायश्चित्त का कम से कम समय छह मास, मध्यम समय १२ मास और अधिकतम समय १२ वर्ष माना गया है। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर को आगमों का संस्कृत भाषा में रूपान्तरण करने के प्रयत्न पर १२ वर्ष का पारांचिक प्रायश्चित्त दिया गया था। विभिन्न पारांचिक प्रायश्चित्त के अपराधों और उनके प्रायश्चित्तों का विवरण हमें जीतकल्प-भाष्य की गाथा २५४० से २५८६ तक मिलता है। विशिष्ट विवरण के इच्छुक विद्वद्जनों को वहाँ उसे देख लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त देने का अधिकार

सामान्यत: प्रायश्चित्त देने का अधिकार आचार्य या गणि का माना गया है। सामान्य व्यवस्था के अनुसार अपराधी को अपने अपराध के लिए आचार्य के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए और आचार्य को भी परिस्थिति और अपराध की गुरुता का विचार कर उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस प्रकार दण्ड या प्रायश्चित्त देने का सम्पूर्ण अधिकार आचार्य, गणि या प्रवर्तक को होता है। आचार्य या गणि की अनुपस्थिति में उपाध्याय, उपाध्याय की अनुपस्थिति में प्रवर्तक अथवा वरिष्ठ मुनि जो छेद-सूत्रों का ज्ञाता हो, प्रायश्चित्त दे सकता है। स्व-गण के आचार्य आदि से भी प्रायश्चित्त लिया जा सकता है। किन्तु अन्य गण के आचार्य तभी प्रायश्चित्त दे सकते हैं जब उनसे इस सम्बन्ध में निवेदन किया जाये। जीतकल्प के अनुसार स्वलिङ्गी अन्य गण के आचार्य या मुनि की अनुपस्थिति में छेदसूत्र का अध्येता गृहस्थ जिसने दीक्षा-पर्याय छोड़ दिया हो वह भी प्रायश्चित्त दे सकता है। इन सब के अभाव में साधक स्वयं भी पापशोधन के लिए स्वविवेक से प्रायश्चित्त का निश्चय कर सकता है।

क्या प्रायश्चित्त सार्वजनिक रूप में दिया जाये?

इस प्रश्न के उत्तर में जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अन्य परम्पराओं से भिन्न है। वे प्रायश्चित्त या दण्ड को आत्मशुद्धि का साधन तो मानते हैं लेकिन प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दण्ड केवल इसलिए नहीं दिया जाता है कि उसे देखकर अन्य लोग अपराध करने से भयभीत हों। अत: जैन-परम्परा सामूहिक रूप में, खुले रूप में दण्ड की विरोधी है। इसके विपरीत बौद्ध-परम्परा में दण्ड या प्रायश्चित्त को सङ्घ के सम्मुख सार्वजनिक रूप से देने की परम्परा है। बौद्ध-परम्परा में प्रवारणा के समय साधक भिक्षु को सङ्घ के सम्मुख अपने अपराध को प्रकट कर सङ्घ-प्रदत्त प्रायश्चित्त या दण्ड को स्वीकार करना होता है। वस्तुत: बुद्ध के निर्वाण के बाद किसी सङ्घप्रमुख की नियुक्ति को आवश्यक नहीं माना गया, अत: प्रायश्चित्त या दण्ड देने का दायित्व सङ्घ पर आ पड़ा। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्वजनिक रूप से दण्डित करने की यह प्रक्रिया उचित नहीं है, क्योंकि इससे समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा गिरती है, तथा कभी-कभी सार्वजनिक रूप से दण्डित किये जाने पर व्यक्ति विद्रोही बन जाता है।

अपराध की समानता पर दण्ड की समानता का प्रश्न

प्रायश्चित्तों की चर्चा के प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है कि क्या जैन-सङ्घ में समान अपराधों के समान दण्ड की व्यवस्था है या एक ही समान अपराध के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग दण्ड दिया जा सकता है। जैन विचारकों के अनुसार एक ही प्रकार के अपराध के लिए सभी प्रकार के व्यक्तियों को एक ही समान दण्ड नहीं दिया जा सकता। प्रायश्चित्त के कठोर और मृदु होने के लिए व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं वह विशेष परिस्थिति भी विचारणीय है जिसमें कि वह अपराध किया गया है। उदाहरण के लिए एक ही प्रकार के अपराध के लिए जहाँ सामान्य भिक्षु या भिक्षुणी को अल्प दण्ड की व्यवस्था है। वहीं श्रमण-सङ्घ के पदाधिकारियों को अर्थात् प्रवर्तिनी, प्रवर्तक, गणि, आचार्य आदि को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था है। पुन: जैन आचार्य यह भी मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वत: प्रेरित होकर कोई अपराध करता है और कोई व्यक्ति परिस्थितियों से बाध्य होकर अपराध करता है तो दोनों के लिए अलग-अलग प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। यदि हम मैथुन सम्बन्धी अपराध को लें तो जहाँ बलात्कार की स्थिति में भिक्षुणी के लिए किसी दण्ड की व्यवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है किन्तु उस स्थिति में भी यदि वह सम्भोग का आस्वादन लेती है तो उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। अत: एक ही प्रकार के अपराध हेतु दो भिन्न व्यक्तियों व परिस्थितियों में अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यही नहीं जैनाचार्यों ने यह भी विचार किया है कि अपराध किसके प्रति किया गया है। एक सामान्य साधु के प्रति किए गये अपराध की अपेक्षा आचार्य के प्रति किया गया अपराध अधिक दण्डनीय है। जहाँ सामान्य व्यक्ति के लिए किये गये अपराध को मृदु या अल्प दण्ड माना जाता है वहीं श्रमण-सङ्घ के किसी पदाधिकारी के प्रति किये गये अपराध को कठोर दण्ड के योग्य माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन प्रायश्चित्त-विधान या दण्ड-प्रक्रिया में व्यक्ति या परिस्थिति के महत्त्व को ओझल नहीं किया है और माना है कि व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर सामान्य और विशेष व्यक्तियों को अलग-अलग प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, जबकि सामान्यतया बौद्ध-परम्परा में इस प्रकार के विचार का अभाव देखते हैं। हिन्दू-परम्परा यद्यपि प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का मूल्याङ्कन करती है किन्तु उसका दृष्टिकोण जैन-परम्परा से बिल्कुल विपरीत दिखाई देता है। जहाँ जैन-परम्परा उसी अपराध के लिए प्रतिष्ठित व्यक्तियों एवं पदाधिकारियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करती है वहीं हिन्दू-परम्परा आचार्यों, ब्राह्मणों आदि के लिए मृदु-दण्ड की व्यवस्था करती है। उसमें एक समान अपराध करने पर भी शूद्र को कठोर दण्ड दिया जाता है और ब्राह्मण को अत्यन्त मृदु-दण्ड दिया जाता है। दोनों परम्पराओं में यह दृष्टिभेद विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बृहत्कल्पभाष्य की टीका में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि जो पद जितना उत्तरदायित्वपूर्ण होता है उस पद के धारक व्यक्ति को उतना ही कठोर दण्ड दिया जाता था। उदाहरण के रूप में भिक्षुणियों का नदी-तालाब के किनारे ठहरना, वहाँ स्वाध्याय आदि करना निषिद्ध है। उस नियम का उल्लङ्घन करने पर जहाँ स्थविर को मात्र षट्लघु, भिक्षुणी को षट्गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता है, वहाँ गणिनी को छेद और प्रवर्तिनी को मूल प्रायश्चित्त देने का विधान है। सामान्य साधु की अपेक्षा आचार्य के द्वारा वही अपराध किया जाता है तो आचार्य को कठोर दण्ड दिया जाता है।

बार-बार अपराध या दोष-सेवन करने पर अधिक दण्ड

जैन-परम्परा में प्रथम बार अपराध करने की अपेक्षा दूसरी बार या तीसरी बार उसी अपराध को करने पर कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी एक नियम का बार-बार अतिक्रमण करता है तो उस नियम के अतिक्रमण की संख्या में जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है प्रायिश्चत्त मास लघु से बढ़ता हुआ छेद एवं नई दीक्षा तक बढ़ जाता है।

प्रायश्चित्त देते समय व्यक्ति की परिस्थिति का विचार

जैन-दण्ड या प्रायश्चित्त-व्यवस्था में इस बात पर भी पर्याप्त रूप से विचार किया गया है कि कठोर अपराध को करने वाला व्यक्ति भी यदि रुग्ण हो, अतिवृद्ध हो, विक्षिप्त चित्त हो, उन्माद या उपसर्ग से पीड़ित हो, उसे भोजन-पानी आदि सुविधापूर्वक न मिलता हो अथवा मुनि-जीवन की आवश्यक सामग्री से रहित हो तो ऐसे भिक्षुओं को तत्काल सङ्घ से बहिष्कृत करना अथवा बहिष्कृत करके शुद्धि के लिए कठोर तप आदि की व्यवस्था देना समुचित नहीं है।

आधुनिक दण्ड-सिद्धान्त और जैन प्रायश्चित्त-व्यवस्था

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया है कि दण्ड और प्रायश्चित्त की अवधारणाओं में एक मौलिक अन्तर है। जहाँ प्रायश्चित्त अन्त:प्रेरणा से स्वत: लिया जाता है, वहाँ दण्ड व्यक्ति को बलात् दिया जाता है। अत: आत्मशुद्धि तो प्रायश्चित्त से ही सम्भव है, दण्ड से नहीं। दण्ड में तो प्रतिशोध, प्रतिकार या आपराधिक प्रवृत्ति के निरोध का दृष्टिकोण ही प्रमुख होता है।

पाश्चात्य विचारकों ने दण्ड के तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं —

(१) प्रतिकारात्मक सिद्धान्त, (२) निरोधात्मक सिद्धान्त, (३) सुधारात्मक सिद्धान्त। प्रथम प्रतिकारात्मक सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि दण्ड के समय अपराध की प्रतिशर्त की जाती है। अर्थात् अपराधी ने दूसरे की जो क्षति की है उसकी परिपूर्ति करना या उसका बदला देना ही दण्ड का मुख्य उद्देश्य है। ''आँख के बदले आँख'' और ''दाँत के बदले दाँत'', ही इस दण्ड सिद्धान्त की मूलभूत अवधारणा है। इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था से न तो समाज के अन्य लोग आपराधिक प्रवृत्तियों से भयभीत होते हैं और न उस व्यक्ति का जिसने अपराध किया है, कोई सुधार ही होता है।

अपराध का दूसरा निरोधात्मक सिद्धान्त मूलत: यह मानकर चलता है कि अपराधी को दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता है कि उसने अपराध किया है अपितु इसलिए दिया जाता है कि दूसरे लोग अपराध करने का साहस न करें। समाज में आपराधिक प्रवृत्ति को रोकना ही दण्ड का उद्देश्य है। इसमें छोटे अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था होती है। किन्तु इस सिद्धान्त में अपराध करने वाले व्यक्ति को समाज के दूसरे व्यक्तियों को आपराधिक प्रवृत्ति से भयभीत करने के लिए साधन बनाया जाता है। अत: दण्ड का यह सिद्धान्त न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसमें दण्ड का प्रयोग साध्य के रूप में नहीं अपितु साधन के रूप में किया जाता है।

दण्ड का तीसरा सिद्धान्त सुधारात्मक सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी भी एक प्रकार का रोगी है अत: उसकी चिकित्सा अर्थात् उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार होना चाहिए। वस्तुत: कारागृहों को सुधारगृहों के रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए ताकि अपराधी के हृदय को परिवर्तित कर उसे सभ्य नागरिक बनाया जा सके।

यदि हम इन सिद्धान्तों की तुलना जैन-प्रायश्चित्त-व्यवस्था से करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि जैन विचारक अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित या दण्ड व्यवस्था में न तो प्रतिकारात्मक सिद्धान्त को और न निरोधात्मक सिद्धान्त को अपनाते हैं अपितु सुधारात्मक सिद्धान्त मे सहमत होकर यह मानते हैं कि व्यक्ति में स्वत: ही अपराधबोध की भावना उत्पन्न करा सकें एवं आपराधिक प्रवृत्तियों से दूर रखकर अनुशासित किया जाये। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जब तक व्यक्ति में स्वत: ही अपराध के प्रति आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होगी तब तक वह आपराधिक प्रवृत्तियों से विमुख नहीं होगा। यद्यपि इस आत्मग्लानि या अपराधबोध का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति जीवन भर इसी भावना से पीड़ित रहे अपितु वह अपराध या दोष को दोष के रूप में देखे और यह समझे कि अपराध एक संयोगिक घटना है और उसका परिशोधन कर आध्यात्मिक-विकास के पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. जीतकल्पभाष्य, जिनभद्रगणि, सं० पुण्यविजयजी, अहमदाबाद, वि०सं० १९९४।
२. पंचाशक (हरिभद्र, सं० डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९७), १६/३ (प्रायश्चित्तपंचाशक)।
३. वही।
४. अभिधानराजेन्द्र कोष, पञ्चम भाग, पृ० ८५५।
५. तत्त्वार्थवार्तिक ९/२२/१, पृ० ६२०।
६. वही।
७. मूलाचार, सं०पं० पन्नालाल माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि०सं० १९७७, ५/१६४।
८. वही, ५/१६६।
९. स्थानाङ्ग, सं० मधुकरमुनि, ब्यावर, ३/४७०।
१०. वही, ३/४४८।
११. वही, १०/७३।
१२. (अ) स्थानाङ्ग, १०/७३।
(ब) जीतकल्पसूत्र, ४, जीतकल्पभाष्य, गाथा ७१८-७२९।
(स) धवला, १३/५, २६/६३/१।
१३. मूलाचार, ५/१६५।
१४. तत्वार्थसूत्र, उमास्वाति, ९/२२।
१५. जीतकल्पभाष्य २५८६, जीतकल्प, १०२।
१६. स्थानाङ्ग, १०/६९।
१७. स्थानाङ्ग, १०/७१।
१८. स्थानाङ्ग, १०/७२।
१९. व्यवहारसूत्र, १/१/३३।
२०. (अ) स्थानाङ्ग, १०/७०।
(ब) मूलाचार, ११/१५।
२१. जीतकल्प ६, देखें— जीतकल्पभाष्य, गाथा ७३१-७५७।
२२. योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति, ३।
२३. आवश्यक टीका, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ८७।
२४. स्थानाङ्ग सूत्र, ६/५३८।
२५. आवश्यकनिर्युक्ति, १२५०-१२६८।
सूचना— यापनीय परम्परा में पिण्डछेदशास्त्र और छेदशास्त्र ऐसे दो ग्रन्थ है जिनमें प्रायश्चित्तों का विवेचन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org